R.N.I. NO. MPHIN/2002/8445,
डाक पंजीयन क्रमांक MP/IDC/1074/2024-26 प्रेषण दिनांक 15. 11. 2024

सर्वोदय प्रेस सर्विस

साप्ताहिक सर्वोदय समाचार विचार सेवा, 29 संवाद नगर, नवलखा, इंदौर–452001 (म.प्र.)

संस्थापक–संपादक : स्व. श्री महेन्द्रकुमार संपादक : **राकेश दीवान** E.mail - indoresps@gmail.com

वर्ष : 22 (64) अंक 29 पृष्ठ संख्या 08 प्रकाशनार्थ सप्रेस आलेख : 85 : इंदौर, शुक्रवार 15 नवंबर 2024

जीवन से जुड़ी आजीविका

अशीष कोठारी

जीवन की तरफ पीठ देकर खड़ी की जा रही समृद्धि ने क्या हमें उस बुनियादी सुख से भी वंचित कर दिया है, जो इस तमाम खटराग का अंतिम लक्ष्य होना चाहिए? और यदि यह सही है तो फिर क्या हमें अपने जीवन जीने के तरीकों पर पुनर्विचार नहीं करना चाहिए? प्रस्तुत है, इन्हीं सवालों की पड़ताल करता अशीष कोठारी का यह लेख।–संपादक

हम इतनी बेचैनी से इंतज़ार क्यों करते हैं कि कब दिन का काम ख़त्म हो या कब हफ्तेभर के काम के बाद दो दिन की छुट्टी मिले? क्या काम की परिभाषा में बदलाव किया जा सकता है ताक़ि हम काम में आनंद और ख़ुशी को भी जोड़ सकें? आर्थिक विकास ने आजीविकाओं को 'निर्जीविकाएं' बना दिया है। यह विकास सदियों से बने काम के तरीक़ों को मिटा रहा है। हमारा जीने का तरीक़ा ऐसा था, जिसमें काम और फुर्सत के बीच कोई स्पष्ट विभाजन नहीं था; अब उनकी जगह 'असेंबली लाइन' की नीरस नौकरियाँ हथियाने लगी हैं और हम काम के हफ्ते के बाद दो दिन की मुक्ति और दूसरी छुट्टियों का बेसब्री से इंतज़ार करते हैं।

हमें बताया जाता है कि प्राथमिक क्षेत्र के कामों से मैन्युफेक्चरिंग और सेवाओं की ओर बढ़ना ही अर्थिक प्रगति है। इसलिए वह आजीविका जो वस्तुतः हम सभी को जीवित रखती है - खेती, वानिकी, पशुपालन, मत्स्य-पालन और संबंधित कारीगरी - को हम पिछड़े काम मानते हैं। भारत में, इस सोच के चलते 70 से 80 करोड़ लोगों, यानि देश की दो-तिहाई आबादी - को हाशिए पर खदेड़ दिया गया है। नतीजे में लाखों किसानों की आत्महत्या या कथित विकास परियोजनाओं के कारण 6 करोड़ लोगों का अपने खेतों, जंगलों और तटों से विस्थापन हाथ लगा है। ऐसे कई लोग हैं, जो प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भर हैं, उन्हें इन संसाधनों से महरूम किया जाता है। हमारा ध्यान बमुश्किल ही इस बात पर जाता है कि ये लोग ग़रीब होते जा रहे हैं। उनके ज़मीन और पानी उद्योगों, सडकों, खनन और शहरों के लिए छीने जा रहे हैं। विकास ने ग़रीबी के नए-नए रूपों को जन्म दिया है।

मान लें कि यह तो करना ही पड़ेगा और करना अच्छा भी है, लेकिन हम इनकी जगह क्या ले आये हैं? गरीबों के लिए या तो कोई रोज़गार नहीं हैं और हैं भी तो निर्माण स्थलों, खदानों, उद्योगों, ढाबों और ऐसी जगहों पर जहां अनिश्चित, शोषणकारी और असुरक्षित रोज़गार हैं, जिन्हें शायद ही कम मशक्क़त का काम कहा जा सकता है। विडंबना यह है कि 93% भारतीय रोज़गार अनौपचारिक क्षेत्र में हैं और इनका शोषण लगातार बढ़ता जा रहा है। काम के बदले कमाई के मामले में मध्यम वर्ग और अमीरों की स्थिति बहुत अच्छी है। एक अध्ययन से पता चलता है कि एक फीसदी भारतीयों के पास देश की कुल संपत्ति का 50 फीसदी से ज़्यादा हिस्सा है, लेकिन ऐसे काम की गुणवत्ता क्या है?

आईटी उद्योग जैसे आधुनिक क्षेत्रों में काम करने वाले ज़्यादातर लोग दुनिया भर में फैली एक विशाल असेंबली लाइन के यांत्रिक पुर्ज़े हैं। कॉल सेंटरों में अलस्सुबह से देर रात तक, कंप्यूटर टर्मिनल पर झुके हुए रटे-रटाए जवाब देते रहते हैं या हर पल भूखे 24x7 न्यूज़ चैनलों को न्यूज़ देने के लिए जी-तोड़ मेहनत करते हैं या शेयर बाज़ार के आँकड़ों को घूरते रहते हैं - कौन ईमानदारी से कह सकता है कि ये 'निर्जीविकाएं' नहीं हैं - जो हमारी स्वतंत्रता और जन्मजात रचनात्मकता को दबाती हैं? अगर ऐसा नहीं है, तो हम दिन का काम खत्म होने या हफ्ते के अंत में छुट्टियों का इतनी बेताबी से इंतज़ार क्यों करते हैं? हमें अपने को ख़ुश रखने के लिए 'रीटेल थेरपियों' के छिछले तरीक़े क्यों आजमाने पड़ते हैं?

ऐसा नहीं है कि सभी आधुनिक रोज़गार 'निर्जीविकाएं' हैं, या सभी पारंपरिक आजीविकाएँ बढ़िया थीं। पहले भी असमानता और शोषण, खासकर लिंग व जाति को लेकर थे, यहाँ तक कि उबाऊ मशक्क़त भी थी, लेकिन उस 'सूखे' के साथ, सार्थक आजीविकाओं के रूप में जो कुछ 'हरा-भरा' था, उसे भी जला देना सही नहीं होगा।

ऐसे कई उदाहरण हैं, जो कभी ग़रीब रहे किसानों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति को सुधारने में मदद करते हैं, जैसे कि 'डेक्कन डेवलपमेंट सोसाइटी' जिसमें दलित महिला किसान 'अन्न स्वराज' की तरफ बढने के साथ-साथ फिल्म निर्माता और रेडियो स्टेशन मैनेजर तक बन गई हैं; या 'दस्तकार' जिन्होंने सिद्ध किया है कि कारीगर आज भी खरा है; उन्होंने हाथ से काम करने वाले तमाम कारीगरों को नई गरिमा दी है। इसी तरह आधुनिक क्षेत्र में भी गिने-चुने सार्थक रोज़गार हैं - खेतों और जंगलों में काम करने वाला जीवविज्ञानी, जो प्रकृति में रहना पसंद करता है, संगीत शिक्षक जो उत्साहपूर्वक छात्रों की प्रतिभा को सामने लाता है, एक 'शेफ' जो खाना पकाने के काम को प्रेम करता है और ऑर्गेनिक आहार की रसोई की साज-संभाल करता है।

मौजूदा प्रवाह के विरुद्ध जाने के लिए शिक्षा में बुनियादी बदलाव की ज़रूरत है। स्कूलों और कॉलेजों में हमारे दिमाग़ में यह ठूँस दिया जाता है कि बौद्धिक कार्य शारीरिक श्रम से बेहतर है। हमारे दिमाग़ को इस तरह मोड़ा जाता है कि इसमें हाथ, पैर और हृदय की क्षमता के विकास की गुंजाइश नहीं रहती। हमारे समक्ष ऐसे लोगों को रोल-मॉडल की तरह पेश किया जाता है जो प्रकृति पर हावी होकर दूसरों को नीचे गिराते हुए सफलता की सीढ़ियाँ चढ़े हैं।

हम बड़े होते हैं तो उत्पादकों व कारीगरों को कुछ नहीं समझते। किसानों को उनकी उपज के लिए बेहद कम कीमतें मिलती हैं। इसी से समझ में आएगा कि हमारे समाज की प्राथमिकताएं कितनी विकृत हैं। जो हमें ज़िंदा रखता है, उसे तो हम वाजिब दाम भी चुकाना नहीं चाहते, परंतु ब्रांडेड जूते और उपकरणों के लिए मुँह माँगी क़ीमत चुकाने को तैयार रहते हैं। हम इस बात की परवाह भी नहीं करते कि कामगार को क्या मिलता है। एक और महत्वपूर्ण परिवर्तन आर्थिक संरचनाओं में करना ज़रूरी है : ज़मीन और प्राकृतिक संसाधनों पर सामुदायिक अधिकार की सुरक्षा, उत्पादन के साधनों पर कामगारों का नियंत्रण और बाजारों पर सामाजिक नियंत्रण।

अगली बार जब ख़ानाबदोश चरवाहों को अपने शहरों की सड़कों पर भेड़ों के साथ देखें, तो इस बारे में सोचें। शायद वे बीते ज़माने के लोग हैं जो जल्द ही गायब हो जाएँगे, लेकिन कौन कह सकता है कि हमारे आईटी या डिजिटल मीडिया या कॉल सेंटर की नौकरियों के साथ भी ऐसा ही नहीं होगा? शायद अब से एक पीढ़ी के आर्टीफिशियल इंटेलिजेंस वाले रोबोट, हममें से कुछ को कंप्यूटर स्क्रीन पर घूरते हुए देखकर मुस्कुराएँगे

कि हम कैसे निठल्ले पोंगा-पंडित हैं। न केवल किसान और मछुआरे, बल्कि मनुष्य भी काल के गाल में समा जाएंगे - बटनों को नियंत्रित करने वाले कुछ लोगों को छोड़कर। क्या यह केवल मिथ्या है? शायद, लेकिन इस तरह की कई कथाएं सच हो गई हैं।

इससे पहले कि हम ऐसे भविष्य में पहुँच जाएं जहाँ मनुष्य ही ग़ैर-ज़रूरी बन जाए, हमें कुछ गंभीर पुनर्विचार करना होगा। यह परिवर्तन हो सकता है कि हम केवल एक आईटी प्रोफेशनल या लेखक बनने की जगह, वह इंसान बन सकें जो बनने की हम क्षमता रखते हैं। शायद हम किसानों को रिसर्चर और फिल्मकार बनने में मदद भी कर सकते हैं जो मार्क्स के दृष्टिकोण का दूसरा रूप है : शिकारी-मछुआरे-पशुपालक-आलोचक। कई लोग कुशल रिसर्चर, किसान, संगीतकार, पालक, शोधकर्ता हैं, जो काम और आराम, शारीरिक और मानसिक, पुराने और नए के बीच के झूठे विभाजन को तोड़ते हुए एक सहज समग्रता में जी रहे हैं।

यह देर-सबेर ज़रूर होगा। तब तक हमें कम-से-कम जीवन के उन तरीक़ों की सराहना करनी चाहिए जो हज़ारों साल से पृथ्वी का आदर करके टिके हैं, न कि उनकी सराहना करें जिसने हम में से कई लोगों को सबसे अलग-थलग करने वाले आधुनिक रोज़गार दिये हैं। क्या हम एक भीमकाय उत्पादन प्रणाली - जो केवल कुछ लोगों को समृद्ध करती है - का बेजान पुर्जा बने रहना चाहते हैं? आइए देखें कि हम पुराने और नए में जो अच्छा है उसे कैसे जोड़ सकते हैं, ताक़ि दोनों को अधिक सार्थक और संतुष्टिदायक बनाया जा सके। यह शायद आजीविकाओं को वापस लाने और 'निर्जीविकाओं' को तिलांजलि देने की शुरुआत होगी। **(सप्रेस) दीपक धोलकिया द्वारा अनुवादित है।**

❖ **श्री अशीष कोठारी 'कल्पवृक्ष' संगठन में पर्यावरण, विकास व विकल्प संगम पर काम करते हैं।**

नोट : लेख का उपयोग होने पर कतरन एवं पारिश्रमिक की राशि **'सर्वोदय प्रेस समिति'** के नाम भेजें।